मार्क्सवाद का उपसंहार

शंकर शरण*

मार्क्सवाद पूरे विश्व में बीसवीं सदी का सबसे प्रभावशाली राजनीतिक दर्शन था। सन् 1917 में रूस में कम्युनिस्ट सत्ता बनने से लेकर 1991 में सोवियत संघ के विघटन तक दुनिया के अधिकांश हिस्से में राजनीतिक, कूटनीतिक, शैक्षिक एवं बौद्धिक क्षेत्रों में मार्क्सवादी विचारों का कमोबेश प्रभाव देखा जा सकता था। उन विचारों की क्या विशेषता थी तथा क्या अंतर्विरोध एवं कमियाँ थीं, जिनसे अंततः दुनिया के लगभग सभी देशों की कम्युनिस्ट व्यवस्थाएँ खत्म हो गईं। तदनुरूप मार्क्सवाद का प्रभाव भी अब समाप्त-प्राय हो गया। इस लेख में उन्हीं बिंदुओं का संक्षिप्त आकलन है।

प्रस्तावना

प्रसिद्ध हिंदी लेखक निर्मल वर्मा ने बताया था कि उन्होंने जब मार्क्स-लेनिन की पुस्तकों को स्वयं पढ़ना शुरू किया तो मार्क्सवादी राजनीति और मार्क्सवाद से दूर होने लगे। वस्तुतः यह सारी दुनिया का अनुभव है। अनेक विद्वानों ने इसकी पुष्टि की है। इसका कारण था कि लोग किसी-न-किसी प्रभाव में मार्क्सवादी पहले बन जाते थे, और 'सामयिक' पार्टी-साहित्य पढ़ते हुए मार्क्स, लेनिन थे आदि प्रायः पढ़ते ही नहीं या किसी निर्देशन में इस तरह चुना, छंटा पढ़ते थे कि स्थानीय पार्टी-लाइन को चोट न पहुँचे। किंतु जिसने भी खुले दिमाग से मार्क्सवाद का अध्ययन, इतिहास तथा वर्तमान का अवलोकन किया, वह मार्क्सवादी नहीं रहा, क्योंकि मार्क्सवाद सिद्धांत और व्यवहार, दोनों में असत्य साबित हुआ है। जैसा प्रसिद्ध पोलिश दार्शनिक कोलाकोवस्की ने कहा था, मार्क्सवाद 'बीसवीं सदी की सबसे बड़ी फ़ैंटेसी' रहा।

आज जब मार्क्सवाद का महत्व सिद्धांत और व्यवहार, दोनों में लुप्तप्राय हो चुका है, तो इसकी समीक्षा करना अकादमिक दृष्टि से उपयोगी होगा। अब वास्तविक अनुभव से मिलान कर देखा जा सकता है कि मार्क्सवाद की कुछ मूल परिकल्पनाओं

* *एसोसिएट प्रोफ़ेसर,* समाज विज्ञान एवं मानविकी शिक्षा विभाग, एन.सी.ई.आर.टी, नयी दिल्ली

में ही उसके टूटने के बीज थे। कार्ल मार्क्स ने पूंजीवाद के लिए कहा था कि वह अपने ही अंतर्विरोध से नष्ट हो जाएगा, पर वह नहीं हुआ! उलटे वह मज़बूत होता चला गया। मार्क्स ने निजी संपत्ति को ऐतिहासिक रूप से नाशवान माना था, कि किसी युग में यह अस्तित्व में आया और अब पूंजीवाद के साथ उसके नष्ट होने का समय आ गया। यह कल्पना भ्रामक साबित हुई। मनुष्य मात्र के सामाजिक जीवन और अपने विवेक के साथ-साथ उसकी संपत्ति भी एक स्थायी चीज़ है। चाहे इसकी मात्रा, गुणवत्ता और रूप कुछ भी हो। उसी तरह मनुष्य स्वभाव के बारे में भी मार्क्स का विचार दोषपूर्ण था। उन्होंने सोचा कि सत्ता द्वारा दमन और वैचारिक प्रशिक्षण, इन दो साधनों से मानव स्वभाव बदला जा सकता है। अनुभव बताता है कि मानव स्वभाव में कुछ प्राकृतिक विशेषताएँ हैं, जो उसी तरह स्थायी हैं, जैसे शेष प्राणि-जगत की। किसी देश में लोगों को बलपूर्वक दिया गया सारा प्रशिक्षण और दमन एक पीढ़ी पर भी पूरी तरह प्रभावी नहीं होता। जबकि नयी पीढ़ी फ़िर पुरानी प्राकृतिक विशेषताओं के साथ उभरती है, जिसे बदलते रहने का प्रयत्न सारी सत्ता और प्रशिक्षण के बावजूद सीमित ही सफ़लता देता है। अतः जैसे ही दमन भय हटा, मानव स्वभाव अपनी स्वतंत्रता, स्वविवेक और अन्वेषण की ओर बढ़ जाता है। कम्युनिस्ट शासनों के साथ-साथ सभी इस्लामी शासनों में भी इस स्थिति के दर्शन किए जा सकते हैं। सदियों का दमन-प्रशिक्षण भी शासकों को आश्वस्त नहीं कर पाता कि उनकी प्रजा उनके निर्दिष्ट सिद्धांतों को स्वेच्छया मानेगी। इस ज़ोर-ज़बर्दस्ती की तुलना में स्वविवेक, स्वाधीनता, अपने परिवार और अपनी संपत्ति के प्रति मनुष्य का लगाव सहज साबित हुआ है। अर्थात्, किसी मतवादी सामूहिकता को मनुष्य स्वभाव पर थोपकर स्थायी रूप से मनवाया नहीं जा सकता।

इसीलिए, सभी कम्युनिस्ट सत्ताओं को सतत, अंतहीन हिंसा का सहारा लेना पड़ा, आरंभ से आज तक। सत्ता लेने से पहले लेनिन ने अपनी पुस्तक *राज्य और क्रांति* (1917) में लिखा था कि कम्युनिस्टों की सत्ता अपने पहले दिन से ही दमनात्मकता को छोड़ना शुरू कर देगी, जो लेनिन के अनुसार पूंजीवादी राज्यसत्ता का चरित्र है। हुआ ठीक उलटा! आते ही रूसी कम्युनिस्टों ने क्रूरतम हिंसा, सामूहिक बर्बर नरसंहार का उपयोग किया। उसके लिए पेशेवर, भयंकर अपराधियों, गंदे लोगों से अपनी राज्य-मशीनरी को भर लिया, क्योंकि वही लोग नीचतम, पाशविक हिंसा कर सकते थे। उस हिंसा के बिना उनकी सत्ता टिक नहीं सकती थी। रूस में 1917–21 के बीच चला गृह युद्ध यही था। इस तरह, रूस में अपने सारे वास्तविक, संदिग्ध, संभावित विरोधियों का समूल संहार करके भी, अगले छह-सात दशक तक भी निरंतर उसी तानाशाही, बेहिसाब हिंसा, सेंसरशिप और ज़बरदस्ती के बल पर ही वहाँ कम्युनिस्ट शासन चल सका। सोल्झेनित्सिन का महान ग्रंथ *गुलाग आर्किपेलाग* (1973) उस भयावह सचाई का एक सीमित आकलन भर है।

वही हिंसा कमोबेश उसी भावना और ज़रूरत से चीन, वियतनाम, कंबोडिया, पूर्वी यूरोप आदि हर कहीं चली, चलती रही। उसमें न केवल दसियों करोड़ निरीह लोगों को मारा गया, बल्कि उस सिद्धांत का भी खात्मा हो गया, जिसे मार्क्सवाद कहा गया था। वर्ग-हीन, गैर-दमनकारी राज्य और समतावादी समाज के दावे मार्क्सवादी शासनों में चिंदी-चिंदी होकर रह गए। तरह-तरह के मार्क्सवादी लेखकों या नेताओं ने जिसे समाजवादी देशों की 'नौकरशाही' कह कर कैफ़ियत देने या उस पर सारा दोष मढ़ने की कोशिश की, वह दरअसल एक नया शासक वर्ग था। युगोस्लाविया के प्रसिद्ध विद्वान मिलोवन जिलास ने अपनी पुस्तक द *न्यू क्लास* (1957) में इसी का आकलन किया था। इस वर्ग के विशेषाधिकार, अतुलनीय सुविधाएँ और निस्सीम ताकत दिए बिना कोई मार्क्सवादी राज्य एक दिन भी सत्ता में नहीं रह सकता था। यह सब शोषक-शोषित एवं गरीब-अमीर का भेद मिटाने के और समानता के सिद्धांत के क्रूर मज़ाक के सिवा कुछ न था। जिन देशों में लोकतांत्रिक तरीके से समाजवाद बनाने की कोशिशें हुईं, वह भी विफ़ल रहीं। चिली और निकारागुआ इसके उदाहरण हैं। निकारागुआ में कम्युनिस्टों को अपनी लोकप्रियता पर भरोसा था, लेकिन चुनावों में उन्हें हार मिली। किसी दल की लोकप्रियता स्थायी नहीं रह पाती। उसे अपने कार्य, नेतृत्व और चेतना का निरंतर नवीनीकरण करते रहना होता है। अन्यथा लोकतांत्रिक परिदृश्य में नए नेता, नए विचार, नयी समस्याएँ और समाधान उभरते रहना स्वाभाविक है।

आर्थिक-तकनीकी क्षेत्र में भी समाजवादी सत्ताएँ उन्हीं कारणों से अक्षम साबित हुईं। सफ़लता में लाभ या विफ़लता में उत्तरदायित्व के वैयक्तिक कारकों का लोप होने से कर्मियों, व्यवस्थापकों में दक्षता और प्रेरणा का तत्व कमज़ोर होता गया। जो कारण पूंजीवादी देशों में सरकारी क्षेत्र के पिछड़ने के पीछे है, वही समाजवादी देशों के सामूहिक पिछड़ने का भी था। वह तो रूस की विशाल प्राकृतिक संपदा थी, जिसके बल पर रूस के साथ-साथ पूर्वी यूरोप के भी समाजवादी विकास का नकली चित्र दो-तीन दशकों तक दिखाया जा सका। लेकिन जैसा 1986–89 की घटनाओं ने दिखाया, रूसी सहारा हटते ही पूर्व यूरोप की समाजवादी सत्ताएँ ताश के घरों की तरह ढह गईं।

वह शासन कितना कृत्रिम, विचारहीन था कि जब रूसियों ने कम्युनिस्ट शासन भंग करना शुरू किया तो दो करोड़ सदस्यों वाली सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी और उसके विशिष्ट वर्ग 'नॉमेनक्लेतुरा' ने कोई प्रतिरोध नहीं किया। उनमें किसी आदर्श या सिद्धांत का मनोबल था ही नहीं! यह 1991 में लुप्त नहीं हुआ, वरन् यह तो 1918–19 के दौरान ही नहीं बचा था। निर्मम तानाशाही और विशेषाधिकारी शासन के लोभ, भय और बल पर राज चलाया जाता रहा था। जैसे चीन में अभी भी चल रहा है।

वस्तुतः मार्क्सवाद की सारी बुनियादी कल्पनाएँ रूस, चीन या किसी भी कम्युनिस्ट सत्ताधारी देश में आरंभ में ही ध्वस्त हो चुकी थीं। बाद में भी, सारी हिंसा और तानाशाही के बावजूद मार्क्सीय-लेनिनी

विचारों के सभी प्रयोग और उपाय निष्फ़ल साबित होते रहे। इसके विपरीत, पूंजीवादी देशों में कोई व्यवस्थागत संकट न होना, कारखाने या उद्योगों के मज़दूरों, कर्मियों का निरंतर दरिद्र न होते जाना, लोगों द्वारा निजी संपत्ति या उद्योग के विरुद्ध विद्रोह न करना, और वैज्ञानिक-तकनीकी-सामाजिक रूप से उनका उन्नत, आत्मविश्वासपूर्ण होते जाना, उसी का आनुषांगिक प्रमाण था।

कृषि क्षेत्र में मार्क्सवादी प्रयोगों ने रूस, चीन, वियतनाम आदि देशों में और भी ज़्यादा विध्वंस किया। किसानों से ज़मीन छीन कर सामूहिकीकरण और नौकरशाही संचालन से अभूतपूर्व अकाल पड़े। सोवियत संघ, चीन, कोरिया, उत्तरी कोरिया, कंबोडिया, इथियोपिया आदि देशों में करोड़ों लोग भूख से मर गए, जिन की जानकारी भी बाहरी दुनिया को दशकों बाद मिली। कम्युनिस्ट तानाशाहियों ने अपनी नकली छवि बनाए रखने के लिए उन समाचारों को छिपाया, इस प्रकार बाहरी 'पूंजीवादी' दुनिया की मदद से भी भूख से मरते अपने लोगों को बचाने का यत्न नहीं किया।

इस प्रकार, पूंजीवादी अंतर्विरोधों को खत्म कर सामाजिक स्वामित्व में उत्पादन को कई गुणा बढ़ा लेने की मार्क्सवादी कल्पना ठीक उल्टी साबित हुई। साथ ही, 'पूंजी की गुलामी' से मुक्त होकर 'अधिक स्वतंत्र मनुष्य' या 'नया इंसान' बनने के बदले मनुष्य वस्तुतः मूक जानवरों की अवस्था में पहुँच गया। ऐसा देश, जहाँ तानाशाही राज्य एकमात्र रोज़गारदाता था, वहाँ अंध-आज्ञापालन के सिवा जीवित बचने का कोई अवसर ही नहीं था। स्वयं बुद्धिमान मार्क्सवादियों ने भी शुरू में ही इसे समझ लिया था कि घोर-गुलामी की व्यवस्था बनने जा रही है। मुसोलिनी, गोर्की, रोज़ा लक्ज़मबर्ग, ट्रॉट्स्की, आदि ने इसे अपने-अपने तरीके से व्यक्त भी किया था। इस प्रकार, कम्युनिस्ट देशों में निजी संपत्ति के नाश ने स्वतंत्रता का भी फ़ौरन नाश कर दिया।

समाजवाद का राजनीतिक तंत्र बनाने के मामले में भी कठोर सैनिक ढाँचे वाला मॉडल सीमित उपयोगिता का ही साबित हुआ। बाहरी हमले आदि का मुकाबला करने में यह ज़रूर उपयोगी रहा, जब लोगों और चीज़ों को मनचाहे, फ़ौरन यहाँ से वहाँ भेजा जा सकता था। किंतु जहाँ भौतिक बल का मुकाबला न करना हो, वहाँ यह तंत्र बिलकुल निकम्मा, नपुंसक साबित हुआ। अर्थतंत्र, शिक्षा, विचारधारा, विद्वता, दर्शन और संस्कृति के क्षेत्र इसके उदाहरण हैं। अपनी नीतियों, परिणामों, विचारों आदि की आलोचनाओं का उत्तर देना, विदेशी साहित्य, सांस्कृतिक आदान-प्रदान को खुले रूप में, निर्बाध चला सकना आदि में सभी मार्क्सवादी देश एक जैसे भीरू और झूठे साबित हुए। अपने उद्योग, व्यापार तथा समाज के बारे में झूठे आँकड़े, विवरण और दूसरे देशों के बारे में दुष्प्रचार के सिवा उनकी साहित्यिक, सांस्कृतिक, बौद्धिक क्षमता कभी कुछ न दे सकी। पूरे सोवियत युग के सात दशकों में एक भी मार्क्सवादी साहित्यिक, दार्शनिक, सामाजिक पुस्तक या विद्वान नहीं हुआ, जिसे आज भी मूल्यवान कहा जा सके। इसके विपरीत, पूंजीवादी यूरोप और अमेरिका में

इसी दौर में तकनीकी ही नहीं, साहित्यिक, वैचारिक, बौद्धिक, सांस्कृतिक अवदानों के एक-से-एक स्तंभ खड़े हुए जिनकी गिनती तक कठिन है।

यह तो किसी एक देश के अंदर मार्क्सवादी सिद्धांत लागू करने का सामान्य हश्र था। अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य में भी 'दुनिया के मज़दूरों, एक हो आओ' का मार्क्सवादी नारा एक क्षण के लिए भी स्वीकृत नहीं हुआ। पहले विश्वयुद्ध से लेकर शीत युद्ध तक, और पूर्ण शांति काल में भी दुनिया के किसी भी देश के लोगों ने अपने देश, राष्ट्रीयता, भाषा, धर्म, संस्कृति को छोड़कर मार्क्सवादी परिकल्पना वाली 'वर्गीय एकता' बनाने, दिखाने में कभी रुचि नहीं ली। यहाँ तक कि स्वयं कम्युनिस्ट देशों के लोगों, पार्टियों तक ने मौका मिलते ही अपनी स्वतंत्र हस्ती दिखाने में संकोच नहीं किया। रूस या चीन के साथ कम्युनिस्ट एकता दिखाना स्वैच्छिक नहीं था, यह तो पोलैंड, फ़िनलैंड, चीन, युगोस्लाविया, हंगरी, चेकोस्लोवाकिया और वियतनाम के कम्युनिस्टों ने बार-बार प्रदर्शित किया। पश्चिमी यूरोप की कम्युनिस्ट पार्टियों ने भी यही दर्शाया या तो वे रूस के प्रचारक एजेंट के रूप में कमज़ोर दशा में रहे, या किसी कारण मज़बूत होते ही रूसियों से स्वतंत्रता दिखाने लगे, यही झलक बार-बार मिली।

इसलिए सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और अंतर्राष्ट्रीय सभी क्षेत्रों में मार्क्सवादी कल्पनाओं के पूरी तरह और बार-बार विविध देशों में, विभिन्न अवसरों पर विफ़ल साबित होने और इसके विपरीत तरह-तरह के पूंजीवादी देशों के स्वतंत्रतापूर्वक, बिना किसी तानाशाही, प्रेस और न्यायतंत्र पर राजकीय कब्ज़े की ज़रूरत के, मज़े से चलते रहने के बावजूद जो लोग आज भी मार्क्सवाद में अपनी बुद्धि लगाते रहते हैं, वैसे लोगों को अंधविश्वासी या फ़ैनेटिक ही कहा जा सकता है।

मार्क्सवाद अब कतई प्रासंगिक नहीं है, क्योंकि यह अपनी ही मान्यताओं पर निष्फ़ल रहा। समानता बनाने के लिए इसे ऐसे दमनकारी तंत्र की ज़रूरत हुई, जो अपनी परिभाषा से ही बिलकुल अलग, अत्यधिक उच्चाधिकारी वर्ग था। दूसरे, अंतर्राष्ट्रीय वर्गीय एकता के बदले सांस्कृतिक राष्ट्रीय एकता के संबंध अत्यधिक सशक्त साबित हुए। इससे मार्क्सवाद की संपूर्ण वर्ग संकल्पना हवाई होकर रह गई।

मार्क्सवादी सिद्धातों के नाम पर जितने भी शासन बने, सब जल्द ही जड़, कठोर, मतिहीन व्यवस्थाओं में बदल गए। बल्कि जब-जब, जहाँ-जहाँ उनमें सुधार के प्रयत्न भी हुए, वह भी कभी कोई अपेक्षित परिणाम नहीं दे पाए। हंगरी, चेकोस्लोवाकिया, पोलैंड आदि इसके उदाहरण हैं। प्रायः पूरी व्यवस्था लड़खड़ाने लगती थी, जिसे पुनः बल प्रयोग कर उसी तरह अनम्य बना लिया जाता था। उन व्यवस्थाओं में समय और ज़रूरत के साथ बदल सकने का लचीलापन नहीं था, क्योंकि वे सहज, स्वतंत्र, मानवीय विकास से नहीं, बल्कि एक बने-बनाए मतवादी फ़ार्मूले पर कृत्रिम रूप से बनाई गई थीं। अंततः रूस में अंतिम कम्युनिस्ट नेता मिखाइल गोर्बाचेव के प्रयोगों (1985–1990) के

बाद स्पष्ट दिखा कि मार्क्सवादी-समाजवाद सुधार के योग्य नहीं है। उसकी व्यवस्था एक जड़-चट्टान की तरह है, जिसे सुधारने, संवारने में पूरे के टूटने के ही आसार दिखते थे। वही सोवियत संघ में हुआ। 1991 में सोवियत संघ में मार्क्सवादी-समाजवादी व्यवस्था आम सहमति से खत्म हो गई। उसे बचाने के लिए कोई संघर्ष या प्रयत्न तक नहीं हुआ।

जो लोग मार्क्सवादी व्यवस्थाओं को 'विचारधारा का शासन' कहते, मानते हैं, वे भी सही नहीं हैं। यह सच है कि आरंभिक दौर में, मार्क्सवादी विचारधारा ने नेताओं, कार्यकर्ताओं को प्रेरित किया था। किंतु एक बार सत्ता हाथ में लेने के बाद सत्ता और शक्ति का तर्क स्वतः प्रबल होता रहा। तब विचारधारा के बदले सीधे बल प्रयोग और लाभ, लोभ, दंड की भावनाओं से सब कुछ संचालित होता था। कथित विचारधारा उसके बाद सब कुछ छिपाने या जैसे-तैसे व्याख्यायित करने का पर्दा या औज़ार भर रह जाती थी। उसी कारण से, सत्ताधारी मार्क्सवादी पार्टियों का सदस्य बनना किसी वैचारिक निष्ठा के बदले निजी उन्नति, सुविधा और विशेषाधिकारों का पासपोर्ट होता था। इन स्थितियों में, रूसी या चीनी समाजवाद को 'विचारधारा शासित' देश कहना भी भूल ही है। निकिता खुश्चेव के बेटे सेर्गेई खुश्चेव ने अपने संस्मरण में लिखा है कि अपनी किशोरावस्था में जब उसने कम्युनिज़्म क्या है, यह उसने अपने पिता से बार-बार समझने की कोशिश की तो उसे समझ में आने लायक कुछ नहीं मिला। यह लगभग 1960 की बात है। अतः सच्चाई यह है कि सारी मार्क्सवादी सत्ताएँ जैसे-तैसे, ज़रूरत के मुताबिक विविध प्रयोग कर, ज़ोर-ज़बर्दस्ती या अंध-दमन से चलती रहीं। यदि रूस, चीन, या किसी भी मार्क्सवादी शासन के सभी महत्वपूर्ण निर्णयों को मार्क्स के विचारों, सिद्धांतों को सामने रखकर देखा जाए तो साफ़-साफ़ दिखेगा कि हर कदम पर, बिना संकोच, मार्क्सवाद को धता बताया जाता रहा। किसी भी तरह सत्ता बनाए रखना, या मज़बूत करना— इसके सिवा किसी मार्क्सवादी सत्ता का कोई गंभीर उद्देश्य कभी नहीं रहा। इन शासनों ने अपने-अपने देश के समाज, संस्कृति और मानस की कितनी बड़ी हानि की है, यह एक अलग विषय है, जिसके दुष्प्रभाव लंबे समय तक दूर होने वाले नहीं हैं।

उनकी तुलना में अमेरिका, इंग्लैंड, फ्रांस, जापान, दक्षिण कोरिया आदि की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था अतुलनीय रूप से सहज और रचनात्मक बनी रही है। हर तरह की नयी समस्याओं से निपटने और आगे बढ़ते जाने में उन देशों के लोगों को कभी कोई कठिनाई नहीं हुई। उन देशों में तरह-तरह की पार्टियाँ, तरह-तरह के विचार, तरह-तरह के नेता, उद्योगपति, राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय चुनौतियाँ, प्रतियोगिताएँ उन्होंने बिना अंदरूनी दमन, प्रतिबंध या ज़ोर-ज़बर्दस्ती के पार की हैं। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि मार्क्सवादी मतवाद की तुलना में स्वतंत्र चिंतन ने उनकी व्यवस्थाओं को अधिक लचीला और उपयोगी बनाया है। किसी मत विशेष को जमाने या फ़ैलाने की जिंद न पालने से उनमें उदारता,

स्वतंत्रता और रचनात्मकता स्वतः विकसित होती रही है। इसके विपरीत, मार्क्सवाद को वैज्ञानिक और विश्व-विजयी बनाने की ज़िद में सभी मार्क्सवादी देशों ने अपने ही लोगों को अकूत हानि पहुँचाकर भी कुछ हासिल नहीं किया।

इस खुले इतिहास के बावजूद जो लोग मार्क्सवाद में किसी समस्या का समाधान पाना चाहते हैं, उन पर दया ही की जा सकती है। वे बंद-दिमाग, खामख्याल हैं। वस्तुतः मार्क्सवाद मानवता के अजायबघर की वस्तु हो चुका है। यह इससे भी प्रमाणित होता है कि कम्युनिस्ट पार्टियों के नेता भी अब मूल मार्क्सीय धारणाओं का कभी प्रयोग नहीं करते। 'वर्ग संघर्ष', 'सर्वहारा की तानाशाही', 'सोशलिज़्म', 'कम्युनिज़्म', 'मज़दूर वर्ग की अंतर्राष्ट्रीयता' आदि बुनियादी पदों का इस्तेमाल किए भी उन्हें बरसों हो गए हैं। यह अकारण नहीं है कि पहले के नामी मार्क्सवादी प्रोफ़ेसर, बुद्धिजीवी अब अपने को 'सेक्यूलर', 'लिबरल' या 'वामपंथी' कहते हैं, अपना पुराना विशेषण 'मार्क्सवादी' उन्होंने स्वयं छोड़ दिया है। यह सब भी मार्क्सवाद का जग-ज़ाहिर मूल्यांकन ही है।

वैचारिक मंथन के नाम पर वे केवल बने-बनाए जुमले दुहराते हैं। उसे किसी ठोस कसौटी पर नहीं कसते। ऐसा न करके मार्क्सवादी लेखक या नेता केवल स्वयं को छलते रहे हैं। यदि उन्हें प्रासंगिक बनना है तो इस बुनियादी प्रश्न का बेबाक सामना करना होगा— क्या कोई मतवाद या विचारधारा सच्चाई से ऊँची चीज़ है? जब तक इस सीधे सवाल का उत्तर नहीं खोजते, वे नितांत अप्रासंगिक हो जाएँगे। यह कई देशों में हो चुका है।

हैरत यह कि दशकों तक रूस, चीन, वियतनाम से सीखने की बात करने वाले भी अब उनसे भी सीखने की बात नहीं करते! यद्यपि वह सबक मूल्यवान है। रूसी गोर्बाचेव हों या चीनी देंग, सब ने अंततः यही पाया कि सच्चाई विचारधारा से बहुत अधिक ताकतवर है। जैसा महान रूसी लेखक सोल्झेनित्सिन ने लिखा था, "सच्चाई का एक शब्द पूरी दुनिया पर भारी पड़ता है।"

अंततः रूसी, चीनी, वियतनामी, जर्मन, सभी सत्ताधारी मार्क्सवादी अपने-अपने अनुभवों से इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यदि मार्क्सवादी विचारधारा निष्फ़ल हुई, तो इसे स्वीकार करना होगा। तभी उनका देश आगे बढ़ सकता है। मार्क्सवादी मतवाद उनके लिए बेड़ी हो चुका था, जब उन्होंने यह समझा तब उसके बाद ही उनकी नीतियों में बुनियादी परिवर्तन आरंभ हुआ। फलतः कई देशों में कम्युनिस्ट पार्टी और विचारधारा तो जाती रही, मगर जिन नेताओं ने सच्चाई स्वीकार की, वे नए रूप में प्रासंगिक बने रहे।

जहाँ तक शोषण-मुक्त समाज बनाने की कल्पना है, तो वास्तव में शोषित, दुर्बल, गरीब की सेवा केवल प्रत्यक्ष ही हो सकती है। किसी काल्पनिक भविष्य में उनके लिए स्वर्ग बनाने का स्वांग छोड़कर, आज और अभी सेवा करने की निष्ठा को ही अथ और इति समझना होगा। इसके लिए कोई विचारधारा नहीं चाहिए, यह साधारण सच्चाई सामने रखकर ही दीन-जनों की सच्ची सेवा हो सकती है। दक्षिण अफ्रीका में मोहनदास

करमचंद गाँधी का पूरा जीवन दुर्बलों, पीड़ितों की प्रत्यक्ष सेवा का ही उदाहरण है। इस बात का भी कि वही करके कोई समाज का आदर भी पा सकता है। यहाँ भी स्वामी विवेकानन्द, स्वामी श्रद्धानन्द, स्वामी शिवानन्द, स्वामी सत्यानन्द, बाबा आमटे जैसे अनेक उदाहरण मिलेंगे कि बीमारों, गरीबों, सामान्य जनों की सेवा करने के लिए किसी 'वैज्ञानिक' विचारधारा या मतवाद की ज़रूरत नहीं होती।

उसी प्रकार, मनुष्य की आवश्यकता और गरिमा के अनुरूप राजनीतिक व्यवस्था बनाने के लिए भी खुले दिमाग और सच्ची निष्ठा की आवश्यकता है। कोई मतवाद या विचारधारा इसमें कभी भी साधन साबित नहीं हुई, बल्कि बाधक ही साबित होती रही है। मार्क्सवाद का एक सदी से भी अधिक लंबा सैद्धांतिक और व्यावहारिक अनुभव एक बार फ़िर यही दर्शाता है।